

षट्कारक अनुशीलन

(शोध निबन्ध)

प्रथम संस्करण : २ हजार
(१३ अक्टूबर, २००२)

लेखक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
प्राचार्य, श्री टोडरमल दि.जैन सिद्धान्त महाविद्यालय
ए-४, बापूनगर, जयपुर (राज.) ३०२०१५

मूल्य : चार रुपये

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

०१. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२५१.००
०२. श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	२५१.००
०३. श्रीमती श्रीकान्ताबाई पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	२५१.००
०४. श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लॉडनू	२५१.००
०५. श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	२५१.००
०६. स्व. ऋषभकुमार सुरेशकुमारजी जैन, पिड़ावा	२५१.००
०७. श्रीमती शान्तिदेवी धनकुमारजी जैन, जयपुर	२५१.००
०८. श्री प्रेमचन्दजी जैन हैटवाले, नई दिल्ली	२५१.००
०९. श्रीमती भंवरीदेवी घीसालालजी छाबड़ा, सीकर	२५१.००
१०. श्री सुरेशचन्द सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर	२०१.००
११. श्री मोलडमल शोसिंह राय जैन एण्ड संस अग्रवाल मण्डी	२०१.००
१२. श्री मयूरभाई एम.सिंघवी, मुम्बई	२०१.००
१३. ब्र. कुसुम जैन, हाथकंगले	१०१.००
१४. श्रीमती पतासीदेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	१०१.००

कुल राशि : ३०६४.००

अपनी बात

सामान्यतः 'षट्कारक' प्रकरण की चर्चा जनसाधारण में जैसी/जितनी/बहुचर्चित होनी चाहिए, वैसी/उतनी नहीं है। जबकि यह सिद्धान्त भी जैनदर्शन के वस्तुस्वातन्त्र्य, कार्य-कारणस्वरूप, कर्ता-कर्म और अनेकान्त जैसे प्राणभूत सिद्धान्तों जैसा ही महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। वस्तु की स्वतंत्रता का उद्घोषक और वीतरागता का हेतुभूत 'षट्कारक' प्रकरण मोक्षमार्ग में एक ऐसा उपयोगी विषय है, जिसके जाने बिना वस्तु की यथार्थ कारण-कार्य व्यवस्था का ज्ञान न केवल अधूरा रहता है; बल्कि आत्मोपलब्धि में हेतुभूत स्वावलम्बन का मार्ग ही नहीं मिलता।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्ददेव और उनके अध्यात्म के हृदय को खोलने वाले एकमात्र टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव एवं आचार्य जयसेन जैसे अध्यात्म के लिए समर्पित आचार्यों के द्वारा प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार आदि मूलग्रन्थों एवं उनकी टीकाओं द्वारा तो विशद विवेचन हुआ ही है, युगपुरुष गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी ने भी प्रवचनसार गाथा १६ पर एवं पंचास्तिकाय गाथा ६२, ६६ और समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार तथा ४७ शक्तियों में आई षट्कारक शक्तियों के माध्यम से षट्कारकों पर विशेष प्रकाश डाला है।

गुरुदेवश्री के सान्निध्य में श्रावण माह में लगने वाले सोनगढ़ शिविर में भी यह विषय पढ़ाया जाता रहा है।

इन सब बातों से 'षट्कारक' प्रकरण के अध्ययन-अध्यापन की उपयोगिता असंदिग्ध है। यही सब सोच-विचार कर अगस्त २००२ के जयपुर शिविर में इस विषय के अध्यापन का जो निर्णय लिया, वह स्तुत्य है।

जब तक शिक्षार्थियों के हाथ में पाठ्यपुस्तक न हो तब तक अध्ययन-अध्यापन में असुविधा तो रहती ही है, अतः शिक्षार्थियों के अध्ययन हेतु मैंने प्रस्तुत कृति लिखने का प्रयास किया है। यदि पाठकों ने थोड़ा भी लाभ लिया तो मेरा श्रम सार्थक होगा।

भारिल्ल

- रतनचन्द

प्रकाशकीय

अनेक लोकप्रिय मौलिक कृतियों के सिद्धहस्त लेखक पण्डितश्री रतनचन्दजी भारिल्ल का यह शोध निबन्ध षट्कारक के स्वरूप एवं प्रक्रिया पर भरपूर प्रकाश डालता है। यह विषय जैनदर्शन की कारण-कार्य प्रक्रिया का ही अभिन्न अंग है। वीतरागता रूप मोक्षमार्ग की उपलब्धि में इस विषय की अहम भूमिका है। इसके यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान बिना मोक्षमार्ग का प्रारंभ ही नहीं हो सकता। वस्तुस्वातन्त्र्य जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को समझने के लिए षट्कारकों का समझना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

प्रस्तुत निबन्ध में पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल ने आगम के आलोक में इस विषय का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। सन् २००२ के अगस्त में लगने वाले शिक्षण-शिविर में प्रौढ़ कक्षा में 'षट्कारक' विषय के अध्यापन कराने का निर्णय लिया गया था। एतदर्थ आप से निवेदन किया गया। तब आपने तात्कालिक तैयारी के साथ जो सफलतापूर्वक पढ़ाया, उससे सभी लोग लाभान्वित तो हुए ही, प्रसन्न और संतुष्ट भी रहे। इसकारण इसी विषय को आगामी शिविरों में चालू रखने का निर्णय ले लिया गया।

यद्यपि आदरणीय पण्डितश्री रतनचन्दजी भारिल्ल ने इस निबन्ध को शिविर की प्रौढ़ कक्षा में अध्यापन हेतु ही तैयार किया है। परन्तु यह कृति विषय के विश्लेषण के साथ अधिकांश प्रश्नोत्तरों के रूप में सरल-सुगम शैली में प्रस्तुत होने से सामान्य पाठकों के लिए भी उपयोगी बन गई है।

आशा है पाठक अधिक से अधिक मात्रा में लाभ उठायेंगे।

आप दीर्घायु हों और इसीतरह जिनवाणी का अध्ययन-अध्यापन एवं प्रचार-प्रसार करते रहें; हमारी यही मंगल कामना है।

सुन्दर आवरण एवं प्रकाशन की व्यवस्था के लिए विभाग के प्रभारी अखिल बंसल धन्यवादाह हैं।

पाटनी

- नेमीचन्द

महामंत्री

षट्कारक अनुशीलन

स्वात्मोपलब्धि प्राप्त स्वाश्रित, स्वयं से सर्वज्ञता ।
स्वयंभू बन जाता स्वतः अरु स्वयं से समदर्शिता ॥

स्वतः होय भवितव्य, षट्कारक निज शक्ति से ।
उलट रहा मन्तव्य, मिथ्यामति के योग से ॥

आचार्यश्री ने परमार्थ षट्कारकों पर प्रवचन प्रारंभ करते हुए कहा -

हे भव्य ! निज कार्य के षट्कारक निज शक्ति से निज में ही विद्यमान हैं; किन्तु मिथ्या मान्यता के कारण अज्ञानी अपने कार्य के षट्कारक पर में खोजता है । यही मिथ्या मान्यता राग-द्वेष की जनक है । अतः कारकों का परमार्थ स्वरूप एवं उनका कार्य-कारण सम्बन्ध समझना अति आवश्यक है । 'अविनाभाव'^१ वश जो बाह्य वस्तुओं में कारकपने का व्यवहार होता है, वह वस्तुतः अभूतार्थ है ।

गुरुदेव ! कारक किसे कहते हैं? कारक का व्युत्पत्ति अर्थ क्या है?

कारक ? “जो प्रत्येक क्रिया के प्रति प्रयोजक हो, जो क्रिया निष्पत्ति में कार्यकारी हो, क्रिया का जनक हो; उसे कारक कहते हैं ।

“करोति क्रियां निर्वर्तयति इति कारकः” यह कारक का व्युत्पत्त्यर्थ है ।

तात्पर्य यह है कि जो किसी न किसी रूप में क्रिया व्यापार के प्रति प्रयोजक हो, कार्यकारी हो, वही कारक हो सकता है अन्य नहीं; कारक छह होते हैं । कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ।

ये छहों क्रिया के प्रति किसी न किसी प्रकार प्रयोजक हैं, कार्यकारी हैं,

१. जिस परद्रव्य की उपस्थिति के बिना कार्य न हो । जैसे - घट कार्य में कुंभकार, चक्र, चीवर आदि ।

इस कारण इन्हें कारक कहा गया है।

सामान्य षट्कारक का स्वरूप

गुरुदेव ! इन छहों सामान्य कारकों का स्वरूप क्या है और ये कार्य के निष्पन्न होने में किसप्रकार कार्यकारी हैं ?

हाँ सुनो ! सर्वप्रथम सामान्य षट्कारकों का स्वरूप कहते हैं -

कर्त्ताकारक :- जो स्वतंत्रता से, सावधानीपूर्वक अपने परिणाम (पर्याय) या कार्य को करे, जो क्रिया व्यापार में स्वतंत्ररूप से कार्य का प्रयोजक हो, वह कर्त्ता कारक है। प्रत्येक द्रव्य अपने में स्वतंत्र व्यापक होने से अपने ही परिणाम का स्वतंत्र रूप से कर्त्ता है।

कर्म कारक :- कर्त्ता की क्रिया द्वारा ग्रहण करने के लिए जो अत्यन्त इष्ट होता है, वह कर्म कारक है। अथवा **कर्त्ता जिस परिणाम (पर्याय) को प्राप्त करता है, वह परिणाम उसका कर्म है।** समयसार कलश ५१ में कहा भी है -

“यः परिणामति सः कर्त्ता, यत् परिणामं भवेत् तत्कर्म”

करण कारक :- क्रिया की सिद्धि में जो साधकतम होता है, वह करण कारक है अथवा **कार्य या परिणाम के उत्कृष्ट साधन को करण कहते हैं।** व्याकरण का सूत्र है - “साधकतम करणं”

सम्प्रदान :- कर्म के द्वारा जो अभिप्रेत होता है, वह सम्प्रदान है। या **कर्म परिणाम जिसे दिया जाय अथवा - जिसके लिए किया जाय वह सम्प्रदान है।**

अपादान :- जिसमें से कर्म किया जाय वह ध्रुव वस्तु अपादान कारक है।

अधिकरण :- जो क्रिया का आधारभूत है, वह अधिकरण कारक है। अथवा जिसके आधार से कर्म (कार्य) किया जाय, उसे अधिकरण कहते हैं।

षट्कारकों के सम्बन्ध में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं -

“सर्व द्रव्यों की प्रत्येक पर्याय में ये छहों कारक एकसाथ वर्तते हैं, इसलिए आत्मा और पुद्गल शुद्धदशा में या अशुद्ध दशा में स्वयं छहों कारकरूप निर्येक्ष परिणामन करते हैं, दूसरे कारकों की अर्थात् निमित्त कारणों की अपेक्षा नहीं रखते।”

“निश्चय से पर के साथ आत्मा को कारकता का सम्बन्ध नहीं है, जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए पर सामग्री को खोजने की आकुलता से परतंत्र हुआ जाय। अपने कार्य के लिए पर की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। अतः पराधीनता से बस हो।”

- प्रवचनसार गाथा १६ की टीका

गुरुदेव ! पंचास्तिकाय और प्रवचनसार के उपर्युक्त कथनों में टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने क्या अन्तर स्पष्ट किया है?

भाई ! तुमने बहुत उत्तम प्रश्न किया है - सुनो ! यहाँ प्रवचनसार के प्रकरणवश आचार्यदेव ने केवलज्ञान रूप निर्मल पर्याय की प्राप्ति को पूर्ण स्वतंत्र - स्वाधीन सिद्ध किया है और पंचास्तिकाय में कर्म और जीव की विकारी पर्यायों को भी पूर्णतया स्वतंत्र, परनिर्देक्ष सिद्ध करके प्रत्येक पर्याय की स्वतंत्र उत्पत्ति सिद्ध करके स्वतंत्रता की उद्घोषणा करते हुए परकर्तृत्व का पूर्णतया निषेध कर पूर्ण स्वाधीनता स्थापित की है।

गुरुदेव ! ये विकारी पर्यायें अहेतुक है या सहेतुक?

भाई ! निश्चय से विकारी पर्यायें भी अहेतुक ही हैं; क्योंकि - प्रत्येक द्रव्य अपना परिणामन स्वतंत्र रूप से करता है। परन्तु विकारी पर्याय के समय निमित्त रूप हेतु का आश्रय अवश्य होता है, इसकारण व्यवहार से उसे सहेतुक भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त समयसार गाथा - ३२८ से ३३१ के भावार्थ में स्पष्ट कहा है कि - “परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के भाव का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं होता, इसलिए जो चेतन के भाव हैं, उनका कर्त्ता चेतन ही होता है, जड़ नहीं।

इस जीव को जो अज्ञान भाव से मिथ्यात्वादि भाव रूप परिणाम हैं, वे भी चेतन हैं, जड़ नहीं। अशुद्ध निश्चयनय से उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है। इस प्रकार वे परिणाम चेतन होने से उनका कर्ता भी चेतन ही है; क्योंकि चेतन कर्म का कर्ता चेतन ही होता है - यह परमार्थ है। इतना विशेष है कि सभी कार्य निमित्त सापेक्ष होने मात्र से उन्हें व्यवहार से सहेतुक कहा जाता है।

गुरुदेव ! 'जीव स्वतंत्ररूप से विकार करता है, अतः वह अहेतुक है' यह बात तो बिल्कुल सही है, परन्तु क्या यह कथन आगम में और भी कहीं आया है?

हाँ, हाँ, पंचास्तिकाय गाथा ६६ की टीका में भी आया है जिसका अभिप्राय इसप्रकार है -

“जिस प्रकार अपने योग्य (कार्य के अनुकूल) निमित्तरूप में चन्द्र-सूर्य के प्रकाश की निमित्तरूप में उपलब्धि होने पर संध्या की लाली, बादलों के विभिन्न रंग तथा इन्द्र धनुष-प्रभामंडल आदि अनेक प्रकार के पुद्गल स्कंध भेद अन्य कर्ता की अपेक्षा बिना ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार निमित्तरूप में अपने योग्य(कर्मबंध के योग्य) जीव परिणाम की निमित्तरूप उपलब्धि होने पर ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार के कर्म भी अन्य कर्ता की अपेक्षा बिना ही उत्पन्न होते हैं।”

तात्पर्य यह है कि - कर्मों की विविध प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग रूप विचित्रता भी जीवकृत नहीं है, पुद्गल कृत ही है। जीव के परिणाम तो निमित्तरूप में मात्र उपस्थित होते हैं, वे कर्मों के कर्ता नहीं।

गुरुदेव ! क्या जीव कर्म के उदय के अनुसार विकारी नहीं होता?

“नहीं, कभी नहीं; क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर तो सर्वदा विकार होता ही रहेगा; क्योंकि संसारी जीव के कर्मोदय तो सदा विद्यमान रहता ही है।”

तो क्या पुद्गल कर्म भी जीव को विकारी नहीं करता ?

“नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति का कर्ता नहीं

है।”

- आत्मावलोकन पृष्ठ -

४६

गुरुदेव ! अध्यात्म में सम्बन्ध एवं संबोधन कारक क्यों नहीं होते ?

अरे भाई ! वे क्रिया के प्रति प्रयोजक नहीं होते। जैसे - “देवदत्त जिनदत्त के मकान को देखता है” इस उदाहरण में देखने रूप क्रिया का प्रयोजक मात्र मकान है न कि जिनदत्त का। वह मकान किसी का भी हो, इससे देखने रूप क्रिया के प्रयोजन पर क्या फर्क पड़ता है। इसलिए कारक छह ही हैं ‘सम्बन्ध कारक’ परमार्थ से कारक ही नहीं है।

संबोधन भी दूसरों का ही किया जाता है। सम्बन्ध एवं संबोधन पर से जोड़ते हैं और अध्यात्म में पर से कुछ भी संबन्ध नहीं होता। इस कारण अध्यात्म में सम्बन्ध एवं संबोधन कारक नहीं होते।

अध्यात्म में स्व में ही निज शक्तिरूप षट्कारक हों, तभी वस्तु पूर्ण स्वतंत्र एवं स्वावलम्बी हो सकती है।

सिद्धान्त रूप में भी जैनदर्शन में प्रत्येक वस्तु की स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा स्वतंत्र अस्तित्व की उद्घोषणा कर परचतुष्टय का उसमें नास्तित्व बतलाया है।

तात्पर्य यह है कि - प्रत्येक वस्तु का जितना भी ‘स्व’ है, वह स्व के अस्तित्वमय है। उसमें पर के अस्तित्व का अभाव है। सजातीय या विजातीय कोई भी वस्तु अपने से भिन्न स्वरूप सत्ता रखनेवाली किसी भी अन्य वस्तु की सीमा को लांघ कर उसमें प्रवेश नहीं कर सकती; क्योंकि दोनों के बीच अत्यन्ताभाव की बज्र की दीवाल है, जिसे भेदना संभव नहीं है।

इसी तथ्य का उद्घाटन आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में किया है -

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णाभिह्ण संकमे दव्वे।

सो अण्णमसंकत्तो कह तं परिणाम स दव्वं ॥१०३॥

जो वस्तु विशेष जिस द्रव्य या गुण में हैं, वह अन्य द्रव्य या गुण रूप में

संक्रमित नहीं होती। वह अन्य द्रव्य या गुणरूप संक्रमित नहीं होती हुई अन्य वस्तु विशेष को कैसे परिणामा सकती है? अर्थात् नहीं परिणामा सकती।

इस गाथा की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं – “इस लोक में जो जितनी कोई वस्तु विशेष जितने प्रमाण में जिस किसी चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य या गुण में स्वरस से ही अनादिकाल से वर्त रही है वह ‘वास्तव में अपनी अचलित वस्तुस्थिति की सीमा का भेदन करना अशक्य होने के कारण’ उसी द्रव्य या गुण में बर्तती रहती है, वह दूसरे द्रव्य या दूसरे गुणरूप से संक्रमित नहीं होती तो अपने से भिन्न दूसरी वस्तु विशेष को परिणामा कैसे सकती है? अर्थात् नहीं परिणामा सकती। अतः परभाव का अन्य किसी के द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है।”

उक्त प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्ता होकर अपना कार्य करता है और करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण आदि छहों कारक रूप से भी द्रव्य स्वयं निज शक्ति से परिणामित होता है। न तो द्रव्य सर्वथा कूटस्थ नित्य है और न ही सर्वथा निरन्वय (पर्याय) क्षणिक है; अपितु वह अर्थ क्रिया करण शक्तिरूप है। वह अपने अन्वयरूप (गुणमय) स्वभाव के कारण एकरूप अवस्थित रहते हुए भी स्वयं उत्पाद-व्यय रूप है। और व्यतिरेक (भेदरूप या पर्यायरूप) स्वभाव के कारण सदा परिणामनशील भी है। यही वस्तु का वस्तुत्व है।

तात्पर्य यह है कि – वह द्रव्यदृष्टि से ध्रुव है और पर्यायदृष्टि से उत्पाद-व्यय रूप है। इसी तथ्य को प्रवचनसार गाथा १०० में इस प्रकार कहा है –

“उत्पाद व्यय के बिना नहीं होता और व्यय उत्पाद के बिना नहीं होता एवं उत्पाद और व्यय ध्रौव्य स्वरूप अर्थ के बिना नहीं होता। यह वस्तु स्थिति है।

गुरुदेव ! यदि यह बात है तो आगम में उत्पाद-व्यय रूप कार्य को पर सापेक्ष क्यों कहा ?

देखो भाई ! पर्यायार्थिकनय से तो प्रत्येक उत्पाद-व्यय रूप कार्य अपने काल में स्वयं के षट्कारकों से ही होता है, अन्य कोई उसका कर्ता-कर्म आदि नहीं है, फिर भी आगम में उत्पाद-व्ययरूप कार्य का जो पर सापेक्ष कथन है, वह

केवल व्यवहारनय (नैगमनय) की अपेक्षा से किया गया है।

गुरुदेव ! आत्मा की कौन-कौन-सी शक्तियाँ वस्तु के स्वतंत्र षट्कारकों की सिद्धि में साधक हैं ?

भाई ! तुम्हारा यह प्रश्न भी प्रासंगिक है, वैसे तो सभी शक्तियाँ वस्तु की स्वतंत्रता की ही साधक हैं, परन्तु कतिपय प्रमुख शक्तियाँ इसप्रकार हैं –

१. भावशक्ति :- इस शक्ति के कारण प्रत्येक द्रव्य अन्वय (अभेद) रूप से सदा अवस्थित रहता है। यह शक्ति पर कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित भवनमात्र है, अतः इस शक्ति द्वारा द्रव्य को पर कारकों से निरपेक्ष कहा है, इससे द्रव्य की स्वतंत्रता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

२. क्रियाशक्ति :- इस शक्ति से प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप सिद्ध कारकों के अनुसार उत्पाद-व्यय रूप अर्थ क्रिया करता है।

३. कर्मशक्ति :- इस शक्ति से प्राप्त होने वाले अपने सिद्ध स्वरूप को द्रव्य स्वयं प्राप्त होता है।

४. कर्ताशक्ति :- इस शक्ति से होने रूप स्वतः सिद्ध भाव का यह द्रव्य भावक होता है।

५. करण शक्ति :- इससे यह द्रव्य अपने प्राप्यमाण कर्म की सिद्धि में स्वतः साधकतम होता है।

६. सम्प्रदान शक्ति :- इससे प्राप्यमाण कर्म स्वयं के लिए समर्पित होता है।

७. अपादान शक्ति :- इससे उत्पाद-व्यय भाव के उपाय होने पर भी द्रव्य सदा अन्वय रूप से ध्रुव बना रहता है।

८. अधिकरण शक्ति :- इससे भव्यमात्र (होने योग्य) समस्त भावों का आधार स्वयं द्रव्य होता है।

९. सम्बन्ध शक्ति :- प्रत्येक द्रव्य में सम्बन्ध नाम की भी एक ऐसी शक्ति है, जिससे किसी भी द्रव्य का अपने से भिन्न अन्य किसी द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे यह सूचित होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना ही

स्वामी है।

इसप्रकार वस्तु के स्वतंत्र षट् कारकों की सिद्धि में उपर्युक्त शक्तियाँ साधक हैं। इन्हीं से प्रत्येक द्रव्य की सभी पर्यायों कारकान्तर निर्पेक्ष सिद्ध होती हैं।

निश्चय षट्कारक का स्वरूप

गुरुदेव ! निश्चय षट्कारकों को आगम के आलोक में समझाने की कृपा करें, ताकि अनादिकाल से अन्दर में बैठी मिथ्या मान्यता की श्रद्धा खण्डित हो जाये।

हाँ, हाँ; तुम बिल्कुल ठीक कहते हो, आगम के आधार बिना बहुत काल से जमी मान्यता को तोड़ना आसान नहीं है। सुनो !

निश्चय षट्कारकों का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार गाथा १६ में कहा है कि - जहाँ अपने ही उपादानकारण से कार्य की सिद्धि कही जाये, वहाँ निश्चय कारक होते हैं। निश्चय से छहों कारक एक ही द्रव्य में होते हैं; क्योंकि परमार्थतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को सहायक नहीं हो सकता। द्रव्य स्वयं ही अपने को, अपने द्वारा, अपने लिए, अपने में से, अपने में करता है। यह निश्चयकारक ही कार्य के नियामक होते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि - प्रत्येक स्वभावपर्याय स्वोन्मुख होकर आत्मस्थित होने के काल में ही होती है। निश्चय षट्कारक इसी स्थिति में घटित होते हैं - जैसे कि स्वसंवेदन से सुव्यक्त हुआ यह आत्मा ही (कर्ता) है। निर्विकल्पस्वरूप अपने आत्मा में ही स्थिर हुआ, अतः यही (अधिकरण) है। भाव इन्द्रियों और मन द्वारा जाना, अतः यही (करण) है। अपने शुद्धचिदानन्द रूप को निज आत्मा की प्राप्ति के लिए दिया, अतः आत्मा ही (सम्प्रदान) है।

शुद्धचिदानन्दमय को ध्याता हुआ क्रमशः उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होता है, अतः आत्मा ही (कर्म) है।

स्वानुभूति के काल में जो एकाग्रता होती है। उसी को यहाँ स्पष्ट किया गया है। ऐसा आत्मा स्वयंभू कैसे बनता है? इसका निर्देश करते हुए प्रवचनसार गाथा १६ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने जो लिखा है, उसका सार यह है कि - शुद्ध उपयोग की भावना के प्रभाव से समस्त घातिकर्मों के नष्ट होने से जिसने शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञायक स्वभाव को प्राप्त किया है, ऐसा वह स्वयं ही षट् कारक रूप है जैसे कि - (१) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञायक स्वभाव के कारण स्वतंत्र होने से जिसने कर्तृत्व के अधिकार को ग्रहण किया है ऐसा आत्मा स्वयं कर्ता है, (२) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही प्राप्य होने से कर्मत्व का अनुभव करता हुआ आत्मा स्वयं कर्म है, (३) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव से स्वयं ही साधकतम (उत्कृष्ट साधन) होने से करणता को धारण करता है, (४) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होने से सम्प्रदानता को धारण करता है, (५) शुद्ध अनन्तशक्तिमय ज्ञानरूप से परिणमित होने के समय पूर्व में प्रवर्तमान विकलज्ञानस्वभाव का नाश होने पर भी सहज ज्ञानस्वभाव से स्वयं ही ध्रुवता का अवलम्बन करने से अपादान है, और (६) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव का स्वयं ही आधार होने से अधिकरण है। इसप्रकार स्वयमेव छह कारकरूप होने से अथवा उत्पत्ति-अपेक्षा द्रव्यकर्म भावकर्मों रूप घातिकर्मों को दूर करके स्वयमेव आविर्भूत होने से 'स्वयंभू' कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि - निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकता का सम्बन्ध नहीं है। अतः शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए बाह्य साधन ढूँढ़ने की व्यग्रता से जीव को परतंत्र नहीं होना चाहिए।

सरल शब्दों में कहें तो यहाँ यह कहा है कि जो स्वतंत्रता-स्वाधीनता से करता है वह **कर्ता** है; कर्ता जिसे प्राप्त करता है वह **कर्म** है; साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधन को **करण** कहते हैं; कर्म जिसे दिया जाता है अथवा जिसके लिए किया जाता है वह **सम्प्रदान** है; जिसमें से कर्म किया जाता है, वह ध्रुववस्तु **अपादान** है और जिसमें अर्थात् जिसके आधार से कर्म किया जाता है वह **अधिकरण** है। यह छह कारक व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार के हैं। जहाँ पर के निमित्त से कार्य की सिद्धि कहलाती है वहाँ **व्यवहार कारक** है और जहाँ अपने ही उपादान कारण से कार्य की सिद्धि कही जाती है वहाँ **निश्चय कारक** हैं।

निश्चय कारकों का दृष्टान्त इसप्रकार है - मिट्टी स्वतंत्रतया घटरूप कार्य को प्राप्त होती है इसलिए मिट्टी कर्ता है और घड़ा कर्म है अथवा घड़ा मिट्टी से अभिन्न है इसलिए मिट्टी स्वयं ही कर्म है; अपने परिणमन स्वभाव से मिट्टी ने घड़ा बनाया इसलिए मिट्टी स्वयं ही करण है; मिट्टी ने घड़ारूप कर्म अपने को ही दिया इसलिए मिट्टी स्वयं सम्प्रदान है; मिट्टी ने अपने में से पिंडरूप अवस्था नष्ट करके घटरूप कर्म किया और स्वयं ध्रुव बनी रही, इसलिए वह स्वयं ही अपादान है, मिट्टी ने अपने ही आधार से घड़ा बनाया इसलिए स्वयं ही अधिकरण है। इसप्रकार निश्चय से छहों कारक एक ही द्रव्य में हैं। परमार्थतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की सहायता नहीं कर सकता और द्रव्य स्वयं ही, अपने को, अपने से, अपने लिए, अपने में से, अपने में ही करता है, इसलिए निश्चय छह कारक ही परम सत्य हैं।

उपर्युक्त प्रकार से द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्तिरूप सम्पदा से परिपूर्ण है इसलिए स्वयं ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य करने के लिए समर्थ हैं, उसे बाह्य सामग्री कोई सहायता नहीं कर सकती। इसलिए **केवलज्ञान प्राप्ति के इच्छुक आत्मा को बाह्य सामग्री की अपेक्षा रखकर परतंत्र होना**

निरर्थक है।

शुद्धोपयोग में लीन आत्मा स्वयं ही छह कारकरूप होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है। वह आत्मा स्वयं अनन्तशक्तिवान ज्ञायकस्वभाव से स्वतंत्र है इसलिए **स्वयं ही कर्ता** है, स्वयं अनन्तशक्तिवाले केवलज्ञान को प्राप्त करने से केवलज्ञान कर्म है, अथवा केवलज्ञान से स्वयं अभिन्न होने से आत्मा **स्वयं ही कर्म** है; अपने अनन्त शक्तिवाले परिणमन स्वभावरूप उत्कृष्ट साधन से केवलज्ञान को प्रगट करता है, इसलिए **आत्मा स्वयं ही करण** है; अपने को ही केवलज्ञान देता है, इसलिये आत्मा **स्वयं ही सम्प्रदान** है; अपने में से मति श्रुतादि अपूर्ण ज्ञान दूर करके केवलज्ञान प्रगट करता है इसलिये और स्वयं सहज ज्ञान स्वभाव के द्वारा ध्रुव रहता है इसलिये **स्वयं ही अपादान** है, अपने में ही अर्थात् अपने ही आधार से केवलज्ञान प्रगट करता है, इसलिये **स्वयं ही अधिकरण** है। इस प्रकार स्वयं छह कारकरूप होता है, इसलिये वह 'स्वयंभू' कहलाता है। अथवा, अनादिकाल से अति दृढ़ बँधे हुए (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतरायरूप) द्रव्य तथा भाव घातिकर्मों को नष्ट करके स्वयमेव आविर्भूत हुआ अर्थात् किसी की सहायता के बिना अपने आप ही स्वयं प्रगट हुआ इसलिये '**स्वयंभू**' कहलाता है।

इस गाथा पर प्रवचन करते हुए गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी ने कहा है कि - प्रवचनसार में साररूप यह गाथा बहुत उत्कृष्ट है। आत्मा अपनी मोक्ष पर्याय प्रगट करता है वह अपने कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे छः कारकरूप होकर करता है। स्वयं शुद्ध चिदानन्द निर्मल है। आत्मा स्वयं, पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर शुद्ध चैतन्य स्वभाव की लीनता करके स्वयं कर्ता होकर धर्म पर्याय प्रगट करता है और स्वयं कर्ता होकर मोक्षरूपी फल प्रगट करता है। व्यवहार होते हुये भी उसे हेय और ज्ञेयमात्र जानकर-व्यवहार रत्नत्रय के अवलम्बन लिए बिना ही - एकमात्र स्वभाव का अवलम्बन लेकर आत्मा स्वयं कर्ता होकर, अपना कार्य करता है। इस तरह आत्मा ने अपने साधन द्वारा,

स्वयं अपने को देकर अपने में से कार्य किया है और अपने ही आधार से काम करता है।

छः कारक स्वयमेव अपने ही रूप होते हैं। अपने स्वरूप के आश्रय से शुद्ध चिदानन्द की दृष्टि करने से – स्वभाव के अवलम्बन से धर्म होता है, पुण्य-पाप के अवलम्बन से किसी को धर्म नहीं होता।

शुभराग स्वभाव का घात करता है किन्तु स्वभाव का अवलम्बन होने पर भावघाति और द्रव्यघाति कर्म नाश को प्राप्त हो जाते हैं। आत्मा शुद्ध आनन्दकंद स्वभावी शक्तिरूप है उससे शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और पूर्णता होती है।

आत्मा विकार और कर्म को दूर करता है – ऐसा कहना व्यवहार है। आत्मा शुद्ध चिदानन्द कारणपरमात्मा है। वह स्वयं ही कर्ता, कर्म, करण है, अपने में स्वभाव लेता है और अपने को ही देता है। अपने में से अपने आधार से ही धर्म प्रगट करता है। जड़कर्म को दूर किया यह तो निमित्त-कथन है। स्वभाव में लीन होते ही जड़ कर्म स्वयमेव दूर हो जाते हैं। अपने में अशुभरूप-पाप परिणाम हो अथवा व्यवहार रत्नत्रय के पुण्य परिणाम हों, वे दोनों ही भाव घाति हैं – अपने स्वभाव का घात करते हैं। घाति रहित – शुद्ध चैतन्य भगवान् आत्मा की दृष्टि करके अपने स्वभाव का कर्ता होकर, अपने स्वभाव प्रगट होता हुआ, अपने आधार से काम करता है – यह मोक्षमार्ग है। ऐसे छः कारकोंरूप होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।

द्रव्य सामान्य के वर्णन का उपसंहार करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रवचनसार गाथा १२६ में स्वयं के स्वतंत्र षट्कारकों को शुद्धात्मा की उपलब्धि में साक्षात् हेतु बताते हुए कहते हैं कि – यदि श्रमण कर्ता-करण-कर्म और कर्मफल आदि षट् कारकस्वरूप आत्मा ही है – ऐसा निश्चयवाला होता हुआ अन्यरूप परिणत ही नहीं हो तो वह शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता है।

मूल गाथा इसप्रकार है –

“कर्ता करणं कम्मं फलं च अप्यत्ति णिच्छिदो समणो ।

परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं – जो पुरुष इसप्रकार कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल (सम्प्रदान) आदि षट्कारक रूप आत्मा ही है” यह निश्चय करके परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता, ऐसे ही निश्चय से जिसका परद्रव्य के साथ सम्पर्क रुक गया है और पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रविष्ट हो गई हैं, वह शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है।

व्यवहार षट्कारक का स्वरूप

१. कर्त्ताकारक :- असद्भूत व्यवहारनय पराश्रित विकल्प है। इसलिए इस नय की अपेक्षा सभी कार्यों के कर्त्तृत्व आदि का पराश्रित रूप से ही कथन किया जाता है। वे व्यवहार कारक कहे जाते हैं।

यदि निश्चयनय से देखें तब तो मिट्टी अपने प्रति नियत परिणाम स्वभाव के कारण जिस समय स्वयं स्वतंत्र रूप से घट परिणाम को जन्म देती है, उत्पन्न करती है, उस समय वहाँ घट की उत्पत्ति में निमित्त रूप में उपस्थित कुम्भकार स्वयं स्वतंत्ररूप से अपने हस्तादि की क्रिया और मन के विकल्प का ही कर्त्ता है परन्तु कुम्भकार एवं कुम्भ उत्पत्ति में बाह्य व्याप्ति के कारण व्यवहारनय से कुम्भकार को घट का कर्त्ता कहा जाता है।

वस्तुतः स्वरूप सत्ता की अपेक्षा तो उस समय मिट्टी और कुम्भकार ने एक साथ प्रथक्-प्रथक् दो क्रियायें की हैं। परन्तु दो द्रव्यों में स्वरूप सत्ता की अपेक्षा सर्वथा भेद होने पर भी अभेद की कल्पना करना असद्भूत व्यवहारनय का काम है, इसी का दूसरा नाम उपचार है। इसी नय से कुम्भकार को घट का कर्त्ता कहा जाता है।

ध्यान दें, यद्यपि यह नय परमार्थभूत अर्थ को स्वीकार नहीं करता, मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराता है; किन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी कोरी कल्पना नहीं है, निमित्त एवं उपादान का अविनाभाव सम्बन्ध है, इस कारण इसे सम्यक् नयों में ही सम्मिलित किया है।

गुरुदेव ! यदि ऐसा है तो पंचाध्यायीकार ने दो पदार्थों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को स्वीकार करने वाले नय को नयाभास क्यों कहा है ?

अरे भाई ! क्योंकि वस्तुतः असद्भूत व्यवहार नय परमार्थभूत अर्थ को स्वीकार नहीं करता, फिर भी यदि कोई व्यवहाराभासी इसे परमार्थभूत मानता है तो उसकी यह मान्यता परमार्थभूत अर्थ का अपलाप करनेवाला होने से नयाभास है। असद्भूत व्यवहारनय नयाभास नहीं है, नय तो सम्यग्ज्ञान का अंश है।

व्यवहार कारकों का दृष्टान्त इसप्रकार है - कुम्हार कर्ता है; घड़ा कर्म है; दंड, चक्र, चीवर इत्यादि करण हैं; कुम्हार जल भरनेवाले के लिए घड़ा बनाता है, इसलिए टोकरी अपादान है और पृथ्वी के आधार पर घड़ा बनाता है, इसलिए पृथ्वी अधिकरण है। यहाँ सभी कारक भिन्न-भिन्न हैं। अन्य कर्ता हैं; अन्य कर्म हैं; अन्य कारण हैं; अन्य सम्प्रदान; अन्य अपादान और अन्य अधिकरण है। परमार्थतः कोई द्रव्य किसी का कर्ता-हर्ता नहीं हो सकता, इसलिए यह छहों व्यवहार कारक असत्य हैं। वे मात्र उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से कहे जाते हैं। निश्चय से किसी द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ कारणता का सम्बन्ध है ही नहीं।

२. कर्मकारक :- असद्भूत व्यवहारनय से कहा जाता है कि कुम्भकार कुम्भ (घट) बनाता है। यहाँ कुम्भकार कर्ता एवं घट कर्म है। वस्तुतः कुम्भकार घट बनाने की क्रिया कभी नहीं कर सकता। वह क्रिया मात्र मिट्टी ही करती है। कुम्भकार तो मात्र घट की उत्पत्ति के समय स्वयं अपनी हाथ चलाने की क्रिया के साथ घट बनाने का विकल्प ही कर सकता है। कुम्भकार की इच्छा घट बनाने की होने पर भी वह स्वरूप सत्तापने की अपेक्षा मिट्टी से अत्यन्त भिन्न होने के कारण घट परिणामनरूप मिट्टी की क्रिया त्रिकाल में नहीं कर सकता।

जो अनादिरूढ़ लौकिक व्यवहार वश यह मानता है कि कुम्भकार स्वयं अपनी क्रिया द्वारा मिट्टी से घट बनाता है उसका ऐसा मानना असद् विकल्प है और आगम में ऐसे विकल्पों की असत्भूत व्यवहारनय के कथन में गणना कर इसे उपचरित रूप से स्वीकार किया गया है।

गुरुदेव ! 'परस्परोग्रहोजीवानां' तत्त्वार्थ सूत्र के इस सूत्र के अनुसार एक जीव द्रव्य अपने से भिन्न अन्य जीव द्रव्य का उपकार (भला) तो करता ही है। तो फिर कुम्भकार घट का निर्माण कर्ता है, इसे भी इसी उपकार के संदर्भ में मानने में क्या आपत्ति है?

भाई ! तुम्हारा स्वाध्याय तो अच्छा है, परन्तु.....वस्तुतः उपकार का अर्थ 'समीपे करोति इति उपकारः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह होता है कि घट क्रिया का कर्तृत्व कुम्हार में नहीं है; किन्तु जब मिट्टी स्वयं घटरूप परिणमती है, तब कुम्हार उसके समीप रहकर मात्र अपने हाथ हिलाने की क्रिया कर्ता है।

इसप्रकार व्यवहार से कुम्भ को कुम्भकार का कर्म कुम्भकार के समीपवर्ती होने से कहा जाता है। इसी प्रकार समीपवर्ती होने के कारण ही घट निष्पत्ति के समय चक्र-चीवर आदि करण संज्ञा तथा पृथ्वी को अधिकरण संज्ञा दी जाती है।

निश्चयनय से वस्तुस्थिति का ज्ञान कराते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव पीछे पृष्ठ १६ पर उद्धृत प्रवचनसार गाथा १२६ में कहते हैं कि :-

जो श्रमण 'आत्मा ही कर्ता है, आत्मा ही करण है, आत्मा ही कर्म है, आत्मा ही फल (सम्प्रदान) है - ऐसा निश्चय कर यदि अन्यरूप नहीं परिणमता है तो वह नियम से शुद्धता को प्राप्त करता है।

ऐसे निश्चय पूर्वक स्वभाव सन्मुख होने से निश्चय ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। परिणामस्वरूप यह अनादि चतुर्गति भ्रमण से दुःखी जीव संसार से छूटकर सिद्धपद प्राप्त कर लेता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्ददेव

प्रवचनसार में ही प्रारंभ में कहते हैं -

चारित्रं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्धिद्वो।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

इसका अर्थ करते हुए ब्र. पण्डित हेमराजजी पाण्डे लिखते हैं -

निश्चय से अपने में अपने स्वरूप का आचरणरूप चारित्र ही धर्म है, अपने वस्तुस्वरूप को धारण करने से चारित्र का नाम धर्म कहा गया है। जो धर्म है वही समभाव है तथा उद्वेगपने से रहित आत्मा का परिणाम साम्य है।

इसी गाथा की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं -

‘स्वरूपेचरणं चारित्रं’ स्वरूप में रमना ही चारित्र है। तात्पर्य यह है कि - अपने उपयोगरूप परिणाम के द्वारा स्व-समय में प्रवृत्त होना ही चारित्र है। वस्तु के स्वभाव रूप होने से यही धर्म है। इस सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य है शुद्ध चैतन्य का प्रकाशन।

ज्ञातव्य है कि - किसी भी स्वभावपर्याय की प्राप्ति अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव में उपयोग के एकाकार होने पर ही होती है। यही कारण है कि शुभोपयोग रूप छठवाँ गुणस्थान सातवें गुणस्थान के पतन होने पर ही होता है।

इस सम्बन्ध में षट्कारक मीमांसा के उपसंहार में सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचन्दजी ने जो विचार व्यक्त किए हैं उसका सारांश यह है कि - संसारी जीव की अवस्था (पर्याय) के होने में जहाँ निश्चय से स्व के षट्कारक होते हैं वहीं व्यवहार से पर सापेक्ष षट्कारक भी होते हैं, क्योंकि पर की ओर झुकाव भी रहता ही है। विभाव पर्याय को निमित्त सापेक्ष कहकर कारकान्तर की कल्पना की जाती है। यह अवस्था मिथ्यादृष्टि के तो होती ही है, विभावपर्याय की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि के भी होती है। अतः व्यवहार कारकों का निषेध नहीं है; परन्तु अनादिकाल से यह जीव निश्चय षट्कारक रूप स्वाश्रितपने को

भूलकर अपने विकल्प द्वारा या पर की ओर झुकाव द्वारा मात्र व्यवहार षट्कारक रूप पराश्रित बना हुआ है।

अब इसे अपनी पराश्रित दृष्टि एवं वृत्ति बदलकर सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा स्वाश्रित होना है, क्योंकि ऐसी स्वाश्रित दृष्टि बनाये बिना और उस दृष्टि के द्वारा स्वभाव रत्नत्रय रूप हुए बिना इसे शुद्धात्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए जीवन संशोधन में स्वाश्रितपने का अवलम्बन होना ही कार्यकारी है।

गुरुदेव ! जब यह जीव पराश्रितपने के विकल्प से निर्वृत्त होकर स्वाश्रितपने की मुख्यता से प्रवृत्त होता है, तब उसी समय मुक्त क्यों नहीं हो जाता ?

अरे भाई ! दृष्टि में स्वाश्रितपने के होने पर भी चर्या में जबतक पूर्णरूप से स्वाश्रितपना नहीं होता तब तक वह संसारी ही रहता है।

गुरुदेव ! दृष्टि की अपेक्षा स्वाश्रितपने के काल में चारित्रमोह सम्बन्धी अनन्तानुबन्धी कषाय का भी तो अभाव रहता है। ऐसी अवस्था में वहाँ चर्या की अपेक्षा भी तो स्वाश्रितपना हो ही जाता है न ?

अरे भाई ! यह तो ठीक है; परन्तु दृष्टि की अपेक्षा स्वाश्रितपने की प्राप्ति के काल में मात्र अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होने से चर्या की अपेक्षा आंशिक स्वाश्रितपने की प्राप्ति ही तो हुई, अभी भी शेष अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान एवं संज्वलन कषायों की चौकड़ी फिर भी है न ! आगे जैसे-जैसे कषाय का अभाव होता जाता है वैसे-वैसे चर्या की अपेक्षा स्वात्मस्थिति में प्रगाढ़ता आती जाती है तथा पूर्ण स्वाश्रितपना होने पर मुक्ति भी हो जाती है।

गुरुदेव ! बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में जब क्षायिक चारित्र की प्राप्ति के कारण चर्या की अपेक्षा पूर्ण प्रगाढ़ता आ जाती है तो उसी समय से इस जीव का पूर्ण स्वाश्रित जीवन प्रारम्भ हो जाना चाहिए ?

अरे भाई ! ऐसी बात नहीं है; क्योंकि अभी उसके आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दरूप योग का सद्भाव बना हुआ है, इसलिए वहाँ क्षायिक चारित्र की प्राप्ति होने पर भी पूर्ण स्वाश्रितचर्या नहीं स्वीकार की गई है।

गुरुदेव ! चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में योग का समस्तरूप से अभाव हो जाता है, इसलिए वहाँ तो रत्नत्रय की पूर्णता होने से पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो जानी चाहिए ?

नहीं, क्योंकि ध्यान की प्रक्रिया के अनुसार पूर्ण स्वाधीनता का अनुभव करता हुआ भी इस भूमिका में अन्तर्मुहूर्तकाल तक रुककर ही यह जीव ऐसी अवस्था प्राप्त करता है कि तब जाकर यह पूर्ण स्वाधीनता का अधिकारी होकर पूर्ण स्वतंत्र हो जाता है।

गुरुदेव ! यदि यह बात है तो पंचास्तिकाय गाथा १७२ की समय टीका में जो यह कहा गया है कि 'अनादिकाल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण प्राथमिक जीव व्यवहारनय से भिन्न साध्य-साधनभाव का अवलम्बन लेकर सुख से तीर्थ का प्रारम्भ करते हैं' सो वहाँ ऐसा क्यों कहा गया है ? क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इस जीव का मोक्षमार्ग का प्रारम्भ पराश्रितपने से होता है।

अरे भाई ! ज्ञानमार्ग का अनुसरण करनेवाले जीव के बीच-बीच में अरहंतादि भक्तिविषयक जो राग का उत्थान होता है उस समय यह श्रद्धेय है, यह अश्रद्धेय है; यह श्रद्धाता है, यह श्रद्धान है; यह ज्ञेय है, यह अज्ञेय है; यह ज्ञाता है, यह ज्ञान है; यह आचरणीय है, यह अनाचरणीय है; यह आचरिता है और यह आचरण है। इसप्रकार कर्तव्याकर्तव्य तथा कर्ता-कर्म के विभाग के अवलोकन द्वारा जिन्हें अनुकरण करने योग्य अतिहृदयग्राही उत्साह उत्पन्न हुआ है, वे बिना हठ के रत्नत्रय तीर्थ का सेवन करने में सफल होते हैं। यह उक्त कथन का आशय है।

गुरुदेव ! यहाँ तक तो सब समझ में आ गया अब यह बतायें कि विभावपर्याय की उत्पत्ति में निश्चय षट्कारक कैसे प्रवृत्त होते हैं ? कैसे घटित होते हैं ?

हाँ, हाँ; सुनो ! पंचास्तिकाय की गाथा ६२ के भावार्थ में कहा है कि -

(१) पुद्गल स्वतंत्ररूप से द्रव्यकर्म को करता होने से पुद्गल स्वयं ही कर्ता है (२) स्वयं द्रव्यकर्मरूप परिणमित होने की शक्तिवाला होने से पुद्गल स्वयं ही करण है; (३) द्रव्यकर्म को प्राप्त करता-पहुँचता होने से द्रव्यकर्म कर्म है अथवा द्रव्यकर्म से स्वयं अभिन्न होने से पुद्गल स्वयं ही कर्म (कार्य) है; (४) अपने में से पूर्व परिणाम का व्यय करके द्रव्यकर्मरूप परिणाम करता होने से तथा पुद्गलद्रव्यरूप ध्रुव रहता होने से पुद्गल स्वयं ही अपादान है; (५) अपने को द्रव्यकर्मरूप परिणाम देता होने से पुद्गल स्वयं ही सम्प्रदान है; (६) अपने में अर्थात् अपने आधार से द्रव्यकर्म करता होने से पुद्गल स्वयं ही अधिकरण है।

इसीप्रकार (१) जीव स्वतंत्ररूप से जीवभाव को करता होने से जीव स्वयं ही कर्ता है; (२) स्वयं जीवभावरूप से परिणमित होने की शक्तिवाला होने से जीव स्वयं ही करण है; (३) जीवभाव को प्राप्त करता - पहुँचता होने से जीवभाव ही कर्म है अथवा जीवभाव से स्वयं अभिन्न होने से जीव स्वयं ही कर्म है; (४) अपने में से पूर्व भाव का व्यय करके (नवीन) जीवभाव करता होने से और जीवद्रव्यरूप से ध्रुव रहने से जीव स्वयं ही अपादान है; (५) अपने को जीवभाव देता होने से स्वयं ही सम्प्रदान है; (६) अपने में से अर्थात् अपने आधार से जीवभाव करता होने से जीव स्वयं ही अधिकरण है।

इसप्रकार पुद्गल की कर्मोदयादिरूप से या कर्मबंधादिरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में पुद्गल ही स्वयमेव छह कारकरूप से वर्तता है इसलिए उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है तथा जीव की औदयिकादि भावरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में जीव स्वयं ही छह कारकरूप से वर्तता है इसलिए उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है। पुद्गल की और जीव की उपर्युक्त क्रियाएँ एक ही काल में वर्तती हैं, तथापि पौद्गलिक क्रिया में वर्तते हुए पुद्गल के छह कारक जीवकारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं तथा जीवभावरूप क्रिया में वर्तते हुए जीव के छह कारक पुद्गलाकारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं। वास्तव में किसी द्रव्य के कारकों को किसी

सुखरूप परिणति और शरीर सर्वथा भिन्न होने के कारण सुख और शरीर में निश्चय से किञ्चित्मात्र भी कार्य-कारणता नहीं है।

शरीर सुख-दुःख नहीं देता। देवों का उत्तम वैक्रियिक शरीर सुख का कारण नहीं है और नारकियों का शरीर दुःख का कारण नहीं है। आत्मा स्वयं ही इष्ट-अनिष्ट विषयों के वश होकर सुख-दुःख की कल्पनारूप में परिणमित होता है।

संसार में या मोक्ष में आत्मा अपने आप ही सुखरूप परिणमित होता है; उसमें विषय अकिञ्चित्कर हैं अर्थात् कुछ नहीं कर सकते। अज्ञानी विषयों को सुख का कारण मानकर व्यर्थ ही उनका अवलंबन लेते हैं।

समयसार गाथा ७५

(कर्ता-कर्म कारकों के संदर्भ में)

कम्मस्स य परिणामं णो कम्मस्स य तहेव परिणामं ।

ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥

कर्म के परिणाम को नोकरम के परिणाम को।

जो ना करें बस मात्र जाने प्राप्त हों सद्ज्ञान को ॥७५॥

जो आत्मा इस कर्म के परिणाम को तथा नोकरम के परिणाम को करता नहीं है, मात्र जानता ही है, वह ज्ञानी है।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में कहते हैं -

“निश्चय से मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि रूप से अंतरंग में उत्पन्न होता हुआ जो कर्म का परिणाम है और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान, स्थूलता, सूक्ष्मता आदि रूप से बाहर उत्पन्न होता हुआ जो नोकरम का परिणाम है; वे सब ही पुद्गल के परिणाम हैं। परमार्थ से जिसप्रकार घड़े के और मिट्टी के व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है, उसीप्रकार पुद्गलपरिणाम के और पुद्गल के ही व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है।

पुद्गलद्रव्य स्वतंत्र व्यापक है, इसलिए पुद्गलपरिणाम का कर्ता है और पुद्गलपरिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने के कारण उसका कर्म है। इसलिए पुद्गलद्रव्य के द्वारा कर्ता होकर कर्मरूप से किये जाने वाले समस्त कर्म-नोकरमरूप पुद्गलपरिणामों का कर्ता परमार्थ से आत्मा नहीं है; क्योंकि पुद्गलपरिणाम को और आत्मा को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव के कारण कर्ता-कर्मपने की असिद्धि है।

परन्तु परमार्थ से पुद्गलपरिणाम के ज्ञान और पुद्गल को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्ता-कर्मपने की असिद्धि है और जिसप्रकार घड़े और मिट्टी में व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है; उसीप्रकार आत्मपरिणाम और आत्मा के व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है।”

उक्त संपूर्ण कथन में न्याय और युक्ति से एक ही बात सिद्ध की गई है कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान आदि तो पुद्गल परिणाम हैं ही; किन्तु मोह, राग, द्वेष, सुख-दुःख आदि भी पुद्गलपरिणाम हैं और इनका कर्ता-भोक्ता निश्चय से पुद्गल ही है, आत्मा नहीं। हाँ, आत्मा

इनके ज्ञान का कर्ता अवश्य है, पर इनका कर्ता नहीं; क्योंकि इनका ज्ञान आत्मा का ही परिणाम है, इस कारण आत्मा इनके ज्ञान का कर्ता है।

इसी बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“राग का परिणाम जीव का कर्म नहीं है। जीव में जो राग का परिणाम होता है, उससमय राग को जाननेवाला जो ज्ञान है, उस ज्ञान के परिणाम का कर्ता जीव है और राग को जाननेवाला वह ज्ञान जीव का कर्म है।

रागसंबंधी ज्ञान, राग को जाननेवाली आत्मा की ज्ञानपर्याय, आत्मा का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव होने से आत्मा का कर्म है तथा राग को जाननेवाली ज्ञानपर्याय का आत्मा कर्ता है।

जिस परद्रव्य या परभाव का ज्ञान होता है, वह परद्रव्य या परभाव आत्मा का कर्म नहीं हो सकता, बल्कि उस परद्रव्य या परभाव का ज्ञान आत्मा का कर्म (कार्य) होता है और आत्मा उस ज्ञान का कर्ता होता है।

भगवान आत्मा स्व-पर प्रकाशकज्ञानशक्ति का पिण्ड है। वह स्वयं कर्ता होकर स्व-पर को प्रकाशित करता है। पर को प्रकाशित करने में भी आत्मा को पर की अपेक्षा नहीं है। राग का परिणाम या व्यवहार का परिणाम हुआ, इसकारण राग या व्यवहार का ज्ञान हुआ - ऐसी अपेक्षा या पराधीनता ज्ञान के परिणाम को नहीं है।”

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि अपनी स्व-पर प्रकाशक शक्ति के कारण ही यह भगवान आत्मा पर को और रागादि भावों को जानता है और यह जानना उसका कर्म है एवं उस जाननेरूप कर्म का वह कर्ता है।

मूलतः प्रश्न तो यह था कि यह आत्मा ज्ञानी हो गया - यह कैसे पहिचाना जाय? इसके उत्तर में गाथा में कहा गया था कि कर्म और नोकर्म के परिणाम को जो करता नहीं है, मात्र जानता है, वह आत्मा ज्ञानी है।

प्रश्न -क्या मात्र इतना जान लेने से ही आत्मा के अनुभव बिना ही जीव ज्ञानी हो जाता है ?

उत्तर - आत्मानुभव के बिना तो कोई ज्ञानी हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि आचार्य जयसेन इस गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र जैसा विस्तार न देते हुए भी यह उल्लेख अवश्य करते हैं कि जिसप्रकार घट का उपादानकर्ता मिट्टी है, उसीप्रकार कर्म और नोकर्म के परिणाम का उपादान कर्ता पुद्गल द्रव्य है आत्मा उसका उपादान कर्ता नहीं है। इसप्रकार जो जानता है, वह निश्चय शुद्ध आत्मा का परमसमाधि के बल से अनुभव करता हुआ ज्ञानी होता है।

इस कथन में इस बात को एकदम उजागर कर दिया गया है कि यह आत्मा शुद्धात्मा का अनुभव करता हुआ ही ज्ञानी होता है। इससे स्पष्ट ही है कि आत्मानुभव के बिना जीव ज्ञानी नहीं होता।

इस गाथा के बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में एक गाथा आती है, जो आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति में नहीं है, उसमें भी ज्ञानी को ही परिभाषित किया गया है। वह गाथा मूलतः इसप्रकार है -

कर्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।

धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि गाणी ॥

इस गाथा का अर्थ आचार्य जयसेन स्वयं इसप्रकार करते हैं -

“यह आत्मा पुण्य-पापादि विकारीभावों का कर्ता भी है और अकर्ता भी है। यह सब नयविभाग से है; क्योंकि निश्चयनय से अकर्ता है और व्यवहारनय से कर्ता है। इसप्रकार ख्याति-लाभ-पूजादि समस्त रागादि विकल्पमय औपाधिक परिणामों से रहित समाधि में स्थित होकर जो जानता है, वह ज्ञानी होता है।”

इसमें भी यही कहा है कि समस्त रागादि भावों से रहित समाधि में स्थित होकर जो जानता है, वह ज्ञानी है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि आत्मानुभव के बिना जीव ज्ञानी नहीं होता।

७५वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इस बात को विस्तार से स्पष्ट किया है कि कर्ता-कर्मभाव वहाँ ही बनता है, जहाँ व्याप्य-व्यापकभाव

बनता है। स्पर्शादि और रागादिरूप पौद्गलिकभावों का व्याप्य-व्यापक संबंध पुद्गल से ही होने से उनका कर्ता पुद्गल ही है, आत्मा नहीं। हाँ, यह बात अवश्य है कि स्पर्शादि और रागादिभावों के ज्ञान के साथ आत्मा का व्याप्य-व्यापकभाव बन जाता है; अतः आत्मा उनके ज्ञान का कर्ता अवश्य है; पर वह ज्ञान वास्तव में तो आत्मा का ही है; क्योंकि वह आत्मा का परिणमन है, पुद्गल से उसका कोई संबंध नहीं है, पुद्गल को तो उसने मात्र जाना ही है, उसमें कुछ किया नहीं।

इसी भाव को आगामी कलश में भी स्पष्ट किया जा रहा है, जो इसप्रकार है-

(शार्दूलविक्रीडित)

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि ।
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ॥
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो ।
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४९॥

(सवैया इकतीसा)

तत्स्वरूप भाव में ही व्याप्य-व्यापक बने,
बने न कदापि वह अतत्स्वरूप भाव में ।
कर्ता-कर्म भाव का बनना असंभव है,
व्याप्य-व्यापकभाव संबंध के अभाव में ॥
इस भाँति प्रबल विवेक दिनकर से ही,
भेद अँधकार लीन निज ज्ञानभाव में ।
कर्तृत्व भार से शून्य शोभायमान,
पूर्ण निर्भार मगन आनन्द स्वभाव में ॥४९॥

व्याप्य-व्यापकभाव तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं। व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्ता-कर्मभाव भी कैसे बन सकता है? तात्पर्य यह है कि व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्ता-कर्मभाव बन ही नहीं सकता। इसप्रकार

प्रबल विवेक और सर्वग्राही ज्ञान के भार (बल) से परकर्तृत्व संबंधी अज्ञानांधकार को भेदता हुआ यह आत्मा ज्ञानी होकर परकर्तृत्व से शून्य हो शोभायमान हो रहा है।

उक्त कलश के भाव को पंडित जयचन्द्रजी छाबड़ा ने भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट किया है -

“जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है, सो तो व्यापक है और कोई एक अवस्था-विशेष, वह (उस व्यापक का) व्याप्य है। इसप्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही हैं। जो द्रव्य का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है; वही पर्याय का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है - ऐसा होने से द्रव्य, पर्याय में व्याप्त होता है और पर्याय, द्रव्य के द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसी व्याप्य-व्यापकता तत्स्वरूप में ही (अभिन्न सत्तावाले पदार्थ में ही) होती है; अतत्स्वरूप में (जिनकी सत्ता भिन्न-भिन्न है - ऐसे पदार्थों में) नहीं ही होती। जहाँ व्याप्य-व्यापकभाव होता है, वहीं कर्ता-कर्मभाव होता है; व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्ता-कर्मभाव नहीं होता - ऐसा जो जानता है, वह पुद्गल और आत्मा के कर्ता-कर्मभाव नहीं है - ऐसा जानता है। ऐसा जानने पर वह ज्ञानी होता है, कर्ता-कर्मभाव से रहित होता है और ज्ञाता-दृष्टा-जगत का साक्षीभूत होता है।”

टीका और कलश के भावार्थ से सम्पूर्ण बात एकदम स्पष्ट हो गई है। अतः अब कुछ भी विशेष कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

कविवर पंडित बनारसीदासजी इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

जैसो जो दरब ताके तैसो गुन परजाय,
ताहीसौं मिलत पै मिलै न काहू आनसौं ।
जीववस्तु चेतन करम जड़ जातिभेद,
अमिल मिलाप ज्यौं नितंब जुरै कानसौं ॥

ऐसौ सुविवेक जाकै हिरदै प्रगट भयौ,
ताकौ भ्रम गयौ ज्यौं तिमिर भागै भानसौं ।
सोई जीव करमकौ करता सौ दीसै पै,
अकरता कह्यौ है सुद्धता के परमानसौं ॥५॥

जो द्रव्य जिसप्रकार का होता है, उसके गुण-पर्याय भी उसीप्रकार के होते हैं और वे उसी से मिलते हैं, किसी अन्य द्रव्य से नहीं। जीव चेतन जाति का द्रव्य है और पुद्गल जड़ (अचेतन) जाति का। इसप्रकार इन दोनों में जातिभेद है। इनका मिलाप उसीप्रकार अमिल (असंभव) है, जिसप्रकार कि नितंब पर कान का होना। कान (कर्ण) तो चेहरे पर ही होता है, नितंब पर नहीं।

जिसप्रकार कान का नितंब पर होना संभव ही नहीं है, उसीप्रकार जड़ और चेतन का, कर्म और जीव का मिलाप भी असंभव है। इसप्रकार का विवेक जिसके हृदय में जागृत हो जाता है, उसका भ्रम उसीप्रकार भाग जाता है, जिसप्रकार कि सूर्य के उगने पर अंधकार भाग जाता है। यद्यपि ऐसा जीव इस अज्ञानी जगत को कर्ता के समान ही दिखाई देता है, तथापि वह परमागम में शुद्धनय से अकर्ता ही कहा गया है।

इस कलश में यह बात एकदम उभर कर आई है कि यह भगवान आत्मा दया-दानादिरूप शुभास्रवों का भी कर्ता नहीं है, पर उसे जानता अवश्य है, उसके ज्ञान का कर्ता अवश्य है और वह ज्ञान उसका कार्य है, कर्म है। तात्पर्य यह है कि विकारी भावों का कर्ता नहीं होने पर भी, उनके जाननेरूप निर्मल परिणमन का कर्ता आत्मा है।

कुछ प्रश्नोत्तर

प्रश्न १. 'आत्मा प्रज्ञा द्वारा भेदज्ञान करता है', इस वाक्य में कारक खोजिए ?

उत्तर : आत्मा कर्ता, प्रज्ञा करण, भेदज्ञान कर्म – ये तीन कारक हैं।

प्रश्न २. 'आत्मा में से आत्मा द्वारा शुद्धता प्रगट होती है', इस वाक्य में कितने कारक एवं कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : अपादान, करण और कर्म – ये तीन कारक हैं।

प्रश्न ३. ये छहों कारक द्रव्य हैं, गुण हैं या पर्याय हैं ?

उत्तर : ये छहों कारक द्रव्य में रहनेवाले सामान्य और अनुजीवी गुण हैं। प्रतिसमय इनकी नई-नई पर्यायें होती रहती हैं।

प्रश्न ४. आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करता है; इस वाक्य में छहों कारक किसप्रकार घटित होते हैं ?

उत्तर : केवलज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले आत्मा को बाह्य सामग्री की अपेक्षा रखकर परतंत्र होना निरर्थक है। शुद्धोपयोग में लीन आत्मा स्वयं ही छह कारक रूप होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है।

वह आत्मा स्वयं ही अनंतशक्तिवान ज्ञायकस्वभावी स्वतंत्र होने से स्वयं ही कर्ता है; स्वयं अनंतशक्तिवान केवलज्ञान को प्राप्त करता है इसलिए आत्मा की ही केवलज्ञान पर्याय कर्म है अथवा केवलज्ञान से स्वयं अभिन्न होने के कारण आत्मा स्वयं ही कर्म है; अपने अनंतशक्तिवान परिणमन स्वभावरूप उत्कृष्ट साधन द्वारा केवलज्ञान प्राप्ति करता है इसलिए आत्मा स्वयं ही **करण** है; स्वयं को ही केवलज्ञान देता है; आत्मा स्वयं ही **सम्प्रदान** है; अपने में से मति-श्रुतादि अपूर्ण ज्ञान दूर करके केवलज्ञान प्रगट करता है और स्वयं ही सहज ज्ञानस्वभाव द्वारा ध्रुव रहता है इसलिए स्वयं ही **अपादान** है; अपने में ही अर्थात् अपने ही आधार से केवलज्ञान करता है इसलिए स्वयं ही **अधिकरण** है। इसप्रकार स्वयं छह कारकरूप होने से यह आत्मा "स्वयंभू" कहलाता है....."

प्रश्न ५. (ए) क्या चार घातिया कर्मों के नाश से केवलज्ञान हुआ ?

अथवा

(बी) वज्रवृषभ नाराच संहनन (मजबूत शरीर) से केवलज्ञान हुआ ?

अथवा

(सी) पाँच महाव्रत के निरतिचार पालन करने (शुभराग) से हुआ ?

अथवा

(डी) काल अच्छा था, इससे हुआ ?

या

(ई) शुद्धोपयोग में लीन आत्मा स्वयं ही षट्कारक रूप होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है ?

या

(एफ) पाँचों कारणों से केवलज्ञान प्राप्त होता है ? सकारण समाधान करें ?

उत्तर- (१) चार घाति कर्मों के अभाव से हुआ - यह कथन असद्भूत व्यवहारनय का है।

ज्ञानस्वभाव में पूर्णता एकाग्रता होने पर घातिया कर्म तो स्वयं ही नाश को प्राप्त होते हैं। उनके नाश का कर्ता आत्मा है नहीं। यदि आत्मा कर्मों के नाश का कर्ता बने तो आत्मा जड़ का कर्ता ठहरे, जो वस्तु के स्वरूप को स्वीकृत नहीं है।

(२) वज्रवृषभ नाराच संहनन पुद्गल की शक्ति है, वह आत्मा की पर्याय का कर्ता होता नहीं है।

(३) शुभराग से वीतरागता संभव नहीं है।

(४) काल परद्रव्य है, उसका आत्मा में अत्यन्ताभाव है।

(५) अतः शुद्धोपयोग की भावना से केवलज्ञान हुआ - यही सत्य है; क्योंकि वस्तुतः अपने आत्मद्रव्य के सर्वज्ञ स्वभाव के कारण स्वतंत्रपने अपने स्वतंत्र षट्कारकों से ही केवलज्ञान होता है तथा जब केवलज्ञान होता, तब उपर्युक्त चारों कारणों की उपस्थिति भी अविनाभावरूप से होती है किन्तु वे वास्तविक कारण नहीं हैं।

प्रश्न ६. क्या व्याप्यव्यापकभाव के बिना कर्ता-कर्म की स्थिति होती है ?

उत्तर- नहीं; व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्ता-कर्म की स्थिति नहीं हो सकती। **व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थिति: ?**

अर्थ : व्याप्यव्यापकभाव के संभव बिना कर्ता-कर्म की स्थिति कैसी ?

प्रश्न ७. व्याप्यव्यापकभाव का क्या अर्थ है ?

उत्तर : “जो सर्व अवस्थाओं में व्यापे वह तो व्यापक है और कोई एक अवस्था विशेष वह (उस व्यापक का) व्याप्य है; इसप्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है; द्रव्य पर्याय अभेदरूप ही हैं...ऐसा होने से द्रव्य पर्याय में व्याप्त होता है और पर्याय द्रव्य द्वारा व्याप्य हो जाती है। ऐसा व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूप में ही होता है। अभिन्न सत्तावान पदार्थ में ही होता है, अतत्स्वरूप में कदापि नहीं।

जहाँ व्याप्यव्यापकभाव हो वहीं कर्ता-कर्म भाव होता है; व्याप्यव्यापक भाव के बिना कर्ता-कर्म भाव नहीं होता। ऐसा जो जाने वह पुद्गल और आत्मा में कर्ता-कर्म भाव नहीं है - ऐसा जानता है। ऐसा जानने से वह ज्ञानी होता है।

- समयसार कलश ४९ का भावार्थ

व्याप्यव्यापकभाव या कर्ताकर्मभाव एक ही पदार्थ में लागू होते हैं, भिन्न-भिन्न पदार्थों में वे लागू नहीं हो सकते।

वास्तव में कोई दूसरों का भला-बुरा कर सकता है, कर्म जीव को संसार में परिभ्रमण कराते हैं - इत्यादि मानना अज्ञान है।

निमित्त के बिना कार्य नहीं होता, निमित्त पाकर कार्य होता है यह कथन व्यवहारनय के हैं, उन्हें निश्चय का कथन मानना भी अज्ञानता है।

प्रश्न ८. जीव के विकारी परिणाम और पुद्गल के विकारी परिणाम (कर्म) परस्पर कर्ताकर्मपना है ?

उत्तर : (अ) नहीं; क्योंकि - जीव, कर्म के गुणों को नहीं करता और

कर्म जीव के गुणों को नहीं करता, परन्तु परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम जानो। इसकारण आत्मा अपने ही भाव से कर्ता है, परन्तु पुद्गलकर्म द्वारा किये गये सर्व भावों का कर्ता नहीं है।”

जिसप्रकार मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है, उसीप्रकार अपने भाव द्वारा अपना भाव किया जाता है इसलिए, जीव अपने भावों का कर्ता कदाचित् है, किन्तु जिस प्रकार मिट्टी द्वारा वस्त्र नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार अपने भाव द्वारा परभाव किया जाना अशक्य होने से (जीव) पुद्गल भावों का कर्ता तो कदापि नहीं है यह निश्चय है।

– समयसार

गाथा ८०, ८१, ८२

(ब). “.... संसार और निःसंसार अवस्थाओं का पुद्गल कर्म के विपाक का संभव और असंभव निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म और जीव को व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से, कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से, जीव ही स्वयं अंतर्व्यापक होकर संसार अथवा निःसंसार अवस्था में आदि-मध्य-अंत में व्याप्त होकर ससंसार अथवा निःसंसार ऐसे अपने को करता हुआ अपने एक को ही करता हुआ प्रतिभासित हो परन्तु अन्य को करता हुआ प्रतिभासित न हो....”

– समयसार गाथा ८३

(स). “आत्मा अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो, पुद्गल के परिणाम का करता तो कभी प्रतिभासित न हो। आत्मा और पुद्गल दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है – ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। जड़-चेतन की एक क्रिया हो तो सर्वद्रव्य बदल जाने से सर्व का लोप हो जाये यह महान दोष उत्पन्न होगा।”

(द) “...इसलिए जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जाननेवाला ऐसा पुद्गल द्रव्य.....परद्रव्य परिणामस्वरूप कर्म को नहीं करता, इसलिए उस पुद्गलद्रव्य को जीव के साथ कर्ता-

कर्मभाव नहीं है।”

– समयसार गाथा ७९

की टीका

(य). “...कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं; किन्तु सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणामित होते हैं। मात्र यह जीव व्यर्थ ही कषायभाव करके व्याकुल होता है और कदाचित् अपनी इच्छानुसार ही पदार्थ परिणामित हो, तथापि वह अपने परिणामित करने से तो परिणामित हो, तथापि वह अपने परिणामित करने से तो परिणामित हुआ नहीं है; किन्तु जिसप्रकार बालक चलती हुई गाड़ी को धकेलकर ऐसा मानता है कि “इस गाड़ी को मैं चला रहा हूँ” इसीप्रकार वह असत्य मानता है।

– मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ४

इस पर से सिद्ध होता है कि जीव के भाव का परिणामन और पौद्गलिक कर्म का परिणामन एक-दूसरे से निरपेक्ष स्वतंत्र है; इसलिए जीव में रागादिभाव वास्तव में द्रव्यकर्म के उदय के कारण होते हैं; जीव सचमुच द्रव्यकर्म को करता है और उसका फल भोगता है – इत्यादि मान्यता वह विपरीत मान्यता है। जीव के रागादिभाव के कारण कर्म आये और कर्म का उदय आया इसलिए जीव में रागादिभाव हुआ – ऐसा है ही नहीं। जीव के भावकर्म और द्रव्यकर्म के बीच मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्मभाव नहीं है, क्योंकि दोनों में अत्यन्तभाव है।

प्रश्न ९. आत्मा को स्वयंभू क्यों कहा ?

उत्तर : शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणामित होने के स्वभाव से स्वयमेव छहकारकरूप आविर्भूत होने से स्वयंभू है।

प्रश्न १०. व्यवहार कारकों को असत्य क्यों कहा ?

उत्तर : परमार्थतः कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के भले-बुरे का कर्ता नहीं हो सकता। फिर भी व्यवहारी बाह्य साधन ढूँढने की व्यग्रता से दुःखी होते हैं और

व्यर्थ ही परतंत्र होते हैं। अतः व्यवहारकारकों को असत्य कहा है।

प्रश्न ११. व्यवहार कारक किस नय के विषय बनते हैं ? जब ये असत्य हैं तो इन्हें आगम में स्थान क्यों दिया ?

उत्तर : ये उपचरित असद्भूत व्यवहारनय के विषय बनते हैं।

प्रश्न १२. आत्मा की प्राप्ति को स्वाधीन क्यों कहा ?

उत्तर : अन्य कारकों से सर्वथा निरपेक्ष होने से।

प्रश्न १३. अध्यात्म में कारक छह ही क्यों कहे ? सम्बन्ध एवं सम्बोधन को कारकों में क्यों नहीं माना ?

उत्तर : एक कारण तो यह है कि ये सम्बन्ध एवं सम्बोधन कारक पर से जोड़ते हैं, पराधीनता के सूचक हैं अतः अध्यात्म में इन्हें स्थान प्राप्त नहीं है।

दूसरी बात : इन दोनों का क्रिया की निष्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी भी कर्म या क्रिया की निष्पत्ति में छह तरह के प्रश्न ही उठते हैं। जैसे कि -

१. किसने किया (कर्ता)

वस्तु स्वातंत्र्य की घोषणा

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः,
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया;
स्थितिः वस्तुनो भवतु कर्तु तदेव ततः।।

वास्तव में अपना परिणाम (पर्याय) ही निश्चय से कर्म है, वह परिणाम अपने अश्रयभूत परिणामी (द्रव्य) का ही होता है, अन्य का नहीं और कर्म कर्ता के बिना नहीं होता तथा वस्तु की स्थिति सदा एकरूप नहीं होती; (क्योंकि वस्तु द्रव्य-पर्याय स्वरूप होने से उसमें सर्वथा नित्यत्व संभव नहीं है) इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है। - आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश १२१

२. क्या किया (कर्म)

३. किस साधन से किया (करण)

४. किसके लिए किया (सम्प्रदान)

५. किसमें किया (अधिकरण)

६. किसमें से किया (अपादान)

प्रश्न १४. षट्कारक के स्वरूप और इस समस्त जानकारी से क्या लाभ हैं ? यह भी सारांश रूप में स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : हाँ, हाँ; क्यों नहीं। सुनो ! प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रियापरिणति का कर्ता आदि आप स्वयं है यह आत्मा अपने अज्ञानवश संसार का पात्र आप स्वयं बना हुआ है और अपने पुरुषार्थ के द्वारा उसका अन्त कर आप स्वयं मोक्ष का पात्र बनेगा, वहीं से आत्मा की सम्यग्दर्शन रूप अवस्था का प्रारंभ होता है और इस आधार से जैसे-तैसे चारित्र में परनिरपेक्षता आकर स्वावलंबन में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे सम्यग्दृष्टि का उक्त विचार आत्मचर्या का रूप लेता हुआ परम समाधि दशा में परिणत हो जाता है। अतएव अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्य की क्रियापरिणति का कर्ता है, कर्म है, करण है, सम्प्रदान है, अपादान है, अधिकरण है, यह व्यवहार से ही कहा जाता है; निश्चय से तो प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रियापरिणति का स्वयं कर्ता है, स्वयं कर्म है, स्वयं करण है, स्वयं सम्प्रदान है, स्वयं अपादान है और स्वयं अधिकरण है; यही सिद्ध होता है।

अनादिकाल से यह जीव निश्चय षट्कारक को भूलकर अपने विकल्प द्वारा मात्र व्यवहार षट्कारक का अवलम्बन करता आ रहा है, इसलिए वह संसार का पात्र बना हुआ है; जब वह निश्चय षट्कारक का यथार्थ निर्णय करके पुरुषार्थ द्वारा अपना त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव का आश्रय लेकर शुद्धात्मानुभूति प्रगट करता है तब मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। अतः जीव संशोधन में निश्चय षट्कारक का सम्यग्ज्ञान करना कार्यकारी है। शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए बाह्य साधनसामग्री ढूँढने की व्यर्थ की व्यग्रता (आकुलता)